**Sanskritik aur Samajik Anusandhan**
**www.shodhjournal.com**
**ISSN: 2582-5852**
**Received: 16-05-2024, Accepted: 15-06-2024, Published: 30-06-2024**
**Volume 5, Issue 2, 2024, Page No. 13-16**

# पुनरुत्थान की दुविधाएँ और अख़बार

**डॉ. अनिल कुमार**
एसोसियेट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय), नई दिल्ली, भारत

**सारांश**
भारतीय इतिहास में अट्ठारहवीं सदी का अंतिम दौर एवं उन्नीसवीं सदी का पूरा दौर हलचल और कोलाहल से भरा हुआ संक्रमण काल की तरह रेखांकित किया गया है। चिंतन की धाराएँ भी संक्रमित हो रही थी। फलतः पुनरुत्थान की धारणा पुनरुत्थानवाद के रूप में एकरेखीय नहीं है। नवजागरण को भी धर्म आधारित विशेष राष्ट्रीयकरण के परिप्रेक्ष्य में देखा जा रहा है। परम्परागत समाज व्यवस्था और पश्चिमी ज्ञान के सार एक दूसरे से टकरा रहे थे। विश्वास की दिशा एक तरफ़ और विज्ञान की दिशा दूसरी तरफ़। इसलिए सुधार आंदोलनों के नेताओं में समाज सुधारकों और पुनरुत्थानवादियों को अलग–अलग करके समझना ज़रूरी है। विशेषकर आर्यसमाज और थियोसॉफिकल सोसाइटी के संदर्भ में समाचार पत्रों की भूमिका के साथ प्रस्तुत शोध–आलेख में उस दौर के इसी द्वंद्वात्मक परिदृश्य को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है।

**मूल शब्दः** नवजागरण, समाज–व्यवस्था, पुनरुत्थानवाद, सुधारवाद, परंपरा, आधुनिकत–चेतना, धर्म, जीवन–पद्धति, मूल्यविधान, शिक्षा–प्रणाली, समाचार–पत्र, थियोसॉफिकल सोसाइटी, आर्यसमाज, बुद्धिजीवी, साम्राज्यवाद, प्रौद्योगिकी, विज्ञान

उन्नीसवीं शताब्दी में जितने भी समाज सुधार संबंधी आंदोलन चल रहे थे, वे पुरानी शिक्षा–प्रणाली की देन नहीं थे। पश्चिम के विचारों का (जो नई शिक्षा–प्रणाली के माध्यम से सामने आए) का भारतीय परम्परागत मानसिकता पर जो आघात हुआ उसने प्रश्न और तर्क के नये संसार में व्यक्ति को ला खड़ा किया। इन प्रश्नों ने धार्मिक विश्वास को तथा तर्कों ने परम्परागत समाज व्यवस्था को आड़े हाथों लिया। दरअसल सामाजिक सुधारों की प्रेरणा उन बुद्धिजीवियों द्वारा दी गई जो नए ढंग की शिक्षा व्यवस्था से सम्बद्ध रहे। हालाँकि यह भी सत्य है कि इस शिक्षा व्यवस्था का ऐसा कोई उद्देश्य नहीं था, तथापि विश्व स्तर के प्रगतिशील विचारों और वैज्ञानिक उपलब्धियों ने इन बुद्धिजीवियों को अपने समाज के परम्परागत और जकड़े हुए वैचारिक तथा व्यावहारिक ढाँचे पर ध्यान देने के लिए, उसमें सुधार के लिए प्रेरित किया। यह वह नया वर्ग था जो पश्चिमी ज्ञान के सार तत्त्वों को तथा उनकी संस्कृति के प्रगतिशील मानदण्डों को समझकर आत्मसात् करके अपने समाज में परिवर्तन तथा विकास के मार्ग ढूँढ रहा था। यह उस दौर की सामाजिक, राजनीतिक आवश्यकता ही नहीं, ऐतिहासिक आवश्यकता भी थी। उदाहरण के लिए तत्कालीन बनारस को देखा जा सकता है। शहर के पढ़े लिखे ब्राह्मण बनारस संस्कृत कॉलेज में ज्ञानार्जन की पश्चिमी व्यवस्था के संपर्क में आए। उन्होंने अपनी परंपरा को क़ायम तो रखा परंतु उन्हें अपनी व्यवस्था में बदलाव लाने और अपने शिक्षाशास्त्र को अंग्रेजों के अनुरूप ढालने के लिए विवश भी होना पड़ा। ज्ञान और पावनता के मसलों में तो वे अपनी सत्ता का प्रयोग करते रहे लेकिन शताब्दी के आख़िर तक आते–आते उनकी विद्या पढ़े–लेखों की राय में वैज्ञानिक नहीं रह गई थी। इतिहास, संस्कृति व धर्म के प्रश्न पर हिंदुओं को प्राप्त अनंतिम अधिकार पश्चिम प्राच्यविदों को जा चुका था।[1]

एक वर्ग समय की माँग के अनुरूप अपने धर्म और समाज की जकड़नों को खोलना चाहता था। उसके भीतर से नये समाज के निर्माण की संभावना को बाहर निकालना चाहता था। अतीत के मोह में परिवर्तन को नकारने के बजाय वे आधुनिक वैज्ञानिक जीवन–पद्धति को श्रेष्ठतर लक्ष्यों की प्राप्ति का माध्यम बनाना चाहते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार आंदोलन समाज के उस पक्ष के प्रबल विरोधी थे, जिसमें लम्बे समय से कोई परिवर्तन तो हुआ ही नहीं था, साथ ही जो जीवन के वृहत्तर विकास की संभावनाओं को भी नष्ट कर रहा था। लेकिन धार्मिक कट्टरवादियों की, समाज व्यवस्था के ठेकेदारों की इन बुद्धिजीवियों से ख़ासी नाराज़गी रही। प्रतिक्रिया स्वरूप वे लोग तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को, धार्मिक क्रियाकलापों को युक्ति संगत और परम्परानुमोदित ठहराने के लिए प्राचीन हिन्दू धार्मिक ग्रंथों और शास्त्रों से उद्धरण देकर अपनी बात को पुष्ट करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि वह साधारण जनता जिसका एक तो शिक्षा से संबंध नहीं था, दूसरे जिनके लिए वेद आदर्शतम् और सम्पूर्णतम् का स्थान रखते थे, इन प्रमाणों से संतुष्ट भी होती और अपने विरोध की समझ की क्षमता को भी वहीं दबा देती। इन सबके कारण समाज सुधारकों के कार्य में बहुत बड़ी और गहरी रूकावटें खड़ी होती रही। फिर भी, उन्नीसवीं शताब्दी के हलचल भरे दौर में दो वर्गों में समाज बंट रहा था।

एक जो पुरानी व्यवस्था और विश्वासों से परिवर्तन (विकास की दिशा में) चाहते थे, दूसरे वे जो इस व्यवस्था को ज्यों का त्यों बनाए रखकर ही झंझटों से मुक्ति चाहते थे। इसके अलावा भी सुधार कार्यों में लगे लोगों में ऐसे लोग भी थे जो परिवर्तन चाहते थे, क्रांति भी कर रहे थे, लेकिन पश्चिम के विचारों के प्रभाव से अपने समाज और संस्कृति को ख़तरा महसूस करते थे। जबकि वे पुराने सड़े गले रीति–रिवाजों का, विश्वासों का विरोध करते थे, लेकिन यही लोग परम्परा और संस्कृति की रक्षा के नाम पर धार्मिक कर्मकाण्डों, वैदिक नियमों और संहिताओं का दृढ़ता से पालन करने पर भी बल देते थे। यही बुद्धिजीवी पुनरुत्थानवादी थे। पुनरुत्थानवादी दरअसल अन्य सुधारकों की भाँति नवजागरण के वाहक न बनकर उसकी दुविधा का मूल कारण बनते गए। इसलिए सुधार आंदोलनों के नेताओं में समाज सुधारकों और पुनरुत्थानवादियों को अलग–अलग करना ज़रूरी है। पुनरुत्थानवादी भी बने बनाए सामाजिक ढाँचे से संतुष्ट थे, हालाँकि रूढ़िवाद का विरोध उनमें भी है, लेकिन तभी जब वे अपने विचारों के चलते उसे रूढ़ि के रूप में स्वीकार करते हैं। इस तरह एक ओर जहाँ समाज सुधारक हर तरह के धार्मिक कर्मकाण्ड, रूढ़िवाद का सख़्त विरोध कर रहे थे, वहीं पुनरुत्थानवादी इन सुधारकों के विचारों को पश्चिमी सभ्यता का पिछलग्गू भर मान रहे थे।

आधुनिक चेतना से ही दो प्रवृत्तियाँ जन्मी, एक जो ज्ञान–विज्ञान के आलोक में लोकतंत्र की प्रणेता थी, दूसरी जो ज्ञान–विज्ञान के शास्त्रों से ज़्यादा और आगे कुछ नहीं मानती थी और व्यवस्था के परम्परागत रूप की ही समर्थक थी। पुनरुत्थानवादियों में सबसे पहला नाम है– दयानन्द सरस्वती का; जिन्होंने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' में अन्य धर्मों (बौद्ध, जैन, इस्लाम तथा ईसाई धर्म) को झूठा धर्म ठहराते हुए उनकी घोर निन्दा की। सरस्वती ने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया। उनका इस बात पर विशेष बल था कि, 'वेद ईश्वर का वाक्य है, उनमें त्रुटि की कोई सम्भावना नहीं। अतीत ही नहीं, भविष्य का ज्ञान भी वेदों में मूर्त है। आज की जितनी भी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हैं वे सभी वेदों ने करोड़ों वर्षों पहले प्राप्त कर ली थीं।' आर्यसमाजियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था के पुनरुत्थान के लिए तथा अन्तर्जातीय विवाह के विरूद्ध आवाज़ उठाई। लेकिन आर्य समाज का यही एक पहलू नहीं है। उसके कार्यों का एक सकारात्मक पक्ष भी है। ''धार्मिक अंधविश्वास और ब्राह्मणों के पुरोहिती एकाधिपत्य के विरूद्ध संघर्ष बहुदेववाद का विरोध एवं जन शिक्षा का समर्थन, उपजातियों का उन्मूलन, स्त्री–पुरूष की एकता आदि कार्यक्रम के कारण इसने समाज को आगे भी बढ़ाया।''[2] लेकिन आर्य समाज के सभी कार्यों का उद्देश्य मूलतः हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करना तथा उसकी स्थिति को मज़बूत करना ही था। हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान और वेदों की सत्ता के स्वीकार के लिए इन्होंने जो रूढ़िवादी और मतग्राही प्रयत्न किये उसने दूसरे धर्मों में साम्प्रदायिक भावना को बढ़ावा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज सरकार को फूट डालने के लिए बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ा। दूसरे धर्म के लोगों में, विशेषतः मुसलमान में अपने धर्म के प्रति जो साम्प्रदायिक कट्टरवादी भावना विकसित हुई उसकी चिंगारी आर्य समाज के पुनरुत्थानवादी कार्यों ने तैयार कर दी थी।

जिस समय राष्ट्र को एकीकरण की आवश्यकता थी, उस समय आर्य समाज की मतवादी कार्यवाहियों ने देश के समान हितों और क्रांति के समान प्रयासों में रूकावटें पैदा कीं। दरअसल अपने आरम्भिक दौर में ही ''पुनरुत्थान के सुधारवाद विरोध का रूप धारण कर लिया और वह अन्य धर्मों विशेषकर इस्लाम और ईसाई धर्म पर अधिकाधिक आक्रमण करने लगा।''[3] इन पुनरुत्थानवादियों का समर्थन करने वाले लोग अधिक थे, क्योंकि ये उसी पुरानी व्यवस्था और धर्म के नये तरह के समर्थक थे, जिसको पुराने कट्टरवादियों ने हज़ारों सालों तक सुरक्षित रखा था। नये पुनरुत्थानवादियों में अंतर केवल इतना था कि सामाजिक स्तर पर थोड़े फेरबदल के साथ पुरानी व्यवस्था को ही कायम रखना चाहते थे। भारत में हिन्दुओं की संख्या अन्य धर्म के लोगों से अधिक रही है, क्योंकि हिन्दुस्तान एक हिन्दू जाति बहुल राष्ट्र है, लेकिन काफ़ी प्राचीन समय से ही यहाँ अन्य धर्मों के लोगों का आना और आकर बस जाने का क्रम चलता रहा है। इस तरह हिन्दू धर्म के साथ यहाँ बौद्ध, मुसलमान भी घुलमिल गए। हिन्दुस्तान ने भी इसकी उपस्थिति को खदेड़ने का प्रयास कभी नहीं किया। ये तो अंग्रेजों की शासन नीति ही थी, जिसने मुसलमानों को अलग हो जाने के लिए उकसाया। एक अल्पसंख्यक जाति के लोगों के लिए बहुमत जाति के लोगों का धार्मिक उन्माद कैसा भयानक हो सकता है, यह समझना मुश्किल नहीं। पुनरुत्थानवाद की पुनर्जीवित धार्मिकता ने दूसरे धर्मों को भी (विशेषतः मुसलमानों को) अपने धार्मिक मूल्यों को पुनर्जीवित करने के लिए प्रेरित किया। इसीलिए नये शासकों ने भी इन पुनरुत्थानवादियों को समर्थन दिया। पुनरुत्थानवादियों में केवल हिन्दू या भारतीय ही नहीं थे, बल्कि कुछ और जन भी इसकी हवा के पक्षधर थे। उन्होंने भी अपने स्तर पर अपने ढंग से पुनरुत्थान के काम को ही सहयोग किया। इनमें प्रमुख है– थियोसॉफिकल सोसाइटी।

थियोसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना 1882 में मद्रास में मादाम ब्लावत्स्की नामक रूसी महिला ने की। इस सोसाइटी का विश्वास गुह्य तंत्रों और धार्मिक चमत्कारों में अधिक रहा। लेकिन इस सोसाइटी का घोषित लक्ष्य ''नस्ल, लिंग, जाति अथवा वर्ण के भेदभाव के बिना मानवता में सार्वजनिक भ्रातृत्व का केन्द्र स्थापित करना, तुलनात्मक धर्म दर्शन और विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन देना और मनुष्य में छिपी शक्तियों तथा प्रकृति के गुह्य नियमों का अन्वेषण करना था।''[4] हिन्दू धर्म तथा समाज में बहुत सुधार इन्होंने नहीं किया, फिर भी बहुत से लोग इस सोसाइटी की ओर आकृष्ट हुए। इसका कारण यह था कि मादाम ब्लावत्स्की जादू टोने जैसी मध्ययुगीन पिछड़ी हरक़तों में विश्वास करती थी और जनता पर उनका प्रयोग भी करती थी। वस्तुतः ''यह सोसाइटी तंत्र, अंधविश्वास और मिथ्या को प्रोत्साहन देती थी।''[5] मनुष्य में छिपी शक्तियों और प्रकृति के गुप्त नियमों का अन्वेषण इस जादू टोने की सुघड़ तथा शिक्षित परिभाषा थी। ''थियोसॉफी ने पुरातन हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक दर्शन और उसके पुनर्जन्मवाद को भी स्वीकार किया।''[6] इसके अलावा इन्होंने जो सकारात्मक कार्य किया वह था ''जाति, धर्म, प्रजाति और यौन भेद के परे विश्व बंधुत्त्व के सिद्धान्त का प्रचार'' करना।[7]

मुसलमानों में समाज सुधार और धर्म सुधार आंदोलन की भावना, धीरे–धीरे या प्रतिक्रिया स्वरूप आई। पुनरुत्थानवादियों की अवहेलना ने इन्हें अपने धर्म के प्रति सजग किया। 1889 में मिर्ज़ा गुलाम अहमद द्वारा अहमदिया आंदोलन चलाया गया। ''इसने अपने को मुस्लिम पुनर्जागरण का ध्वजधारी कहा।''[8] मुसलमानों को राजनीतिक रूप से जागृत करने और आधुनिक ढंग की शिक्षा का प्रसार करने में 'अलीगढ़ आंदोलन' की विशेष भूमिका रही। इसी के साथ मुसलमानों में भी धर्म और समाज सुधार आंदोलन तेज़ी से बढ़े। धार्मिक मान्यताओं के प्रति समर्पित होने की पुनरुत्थानवादी कोशिशों ने दोनों ही सम्प्रदायों में सामान्य जन के मस्तिष्क में सामंती विचारों को और अधिक मजबूत ही किया। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि सामन्तवाद विरोधी आंदोलन की सीमा और भी संकीर्ण होने लगी। यूँ तो, ''पुनरुत्थानवाद का उदय धर्म और राष्ट्रीयता के सम्मिश्रण के रूप में हुआ था।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद ने मुस्लिम पुनरुत्थानवाद को प्रोत्साहित किया और दोनों ने मिलकर भारत में साम्प्रदायिकता के विष वृक्ष के फलने फूलने की ज़मीन तैयार की।''[9] अंग्रेजों ने जनता के बीच की फूट का लाभ उठाकर (लाभ उठाने से अंग्रेज कभी नहीं चूके) दोनों समुदायों के बीच प्रतिद्वन्द्विता को और बढ़ावा दिया। इस तरह राजा राममोहन राय, विवेकानन्द, गोविन्द रानाडे, ईश्वरचंद्र विद्यासागर आदि समाज सुधारकों ने जिस नवजागरण के बीज बोए थे उसमें पुनरुत्थानवाद के मतग्राही प्रयत्नों ने बहुत–सी अड़चनें पैदा की। वे समाज सुधारक आधुनिक समाज के लिए जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा जीवन–पद्धति का निर्माण कर रहे थे, उसे पुनरुत्थानवादियों के अतीत, धर्म तथा परम्परा (संकुचित रूढ़ अर्थ में) के मोह ने बहुत दूर तक बाधित किया। फिर भी परिवर्तन हुए और सही दिशा में हुए। लेकिन यह परिवर्तन न तो बहुत तीव्रता से आ गए और न ही बहुत सरलता से। आधुनिक शिक्षा और विचार जिस तरह से तर्कपरकता और वैज्ञानिक जीवन–पद्धति, उदारवादी सिद्धांतों का व्यापक स्तर पर प्रसार कर रही थी, वह भारतीय जीवन–पद्धति, समाज व्यवस्था तथा सिद्धांतों व मूल्यों से मेल न खाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि परिवर्तन के लिए उठ खड़े होने वाले ये तमाम समाज सुधार आंदोलन और क्रांतिकारी विचार एक ख़ास वर्ग की प्रेरणा का ही स्रोत बने। देश की जनता का बहुत बड़ा भाग जो अबतक आर्थिक पिछड़ेपन और सामाजिक विषमता के कारण पिछड़ेपन का शिकार था इन्हें संदेह की दृष्टि से देखता था। इसके अलावा बुद्धिजीवियों का भी एक वर्ग ऐसा था, जिसने पश्चिमी विचारों

और शिक्षा को अपनी संस्कृति और आचार–विचार पर राजनीतिक आधिपत्य के समान ही सांस्कृतिक आधिपत्य माना। जनसाधारण के बीच यह तर्क भी खूब ज़ोर पकड़ता गया कि ईसाई और मुसलमान; क्योंकि दोनों ने भारत की आर्य सभ्यता पर राजनीतिक प्रभुत्व और लूट की इच्छा से शासन किया है, इसीलिए अब वे हमारी संस्कृति और सभ्यता को अपने विचारों और संस्कृति से निम्न तथा संकीर्ण घोषित कर रहे हैं। इस कारण भी, वैज्ञानिक जीवन–पद्धति और वैचारिक ऊर्जा को पश्चिम का या पश्चिम से आयातित मानकर तथा भौतिक सभ्यता की देन मानकर संदेह की दृष्टि से देखा गया। उस दौर में साधारण जनता ही नहीं, बुद्धिजीवी और राष्ट्रीय आंदोलन के कई नेता भी इस दुराग्रह के चलते आधुनिक विचारों को उचित स्थान न दे सके। इतना ही नहीं पश्चिम के अनाधिकार आधिपत्य के विरूद्ध उनके संघर्ष ने आधुनिक विचारों के प्रति भी उनकी शत्रु भावना को बढ़ावा दिया।

मध्ययुगीन संस्कारों और आधुनिक विचारों के संघर्ष ने एक ओर साम्प्रदायिक रूप ले लिया, तो दूसरी ओर साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों को भी आहत किया। यह तो एक पक्ष था ही, लेकिन वह दौर इतनी तरह की हलचलों से भरा था कि एक ओर की उदासीनता से पूरा दौर उदासीन नहीं हो गया। जहाँ पुनरुत्थानवादियों की गतिविधियाँ बढ़ रहीं थीं वहीं समाज सुधारकों के कार्यक्रम भी तेजी से आगे बढ़ते रहे। राजनीतिक चेतना, अब धार्मिक चेतना की अगुआई करने लगी थी। कहा जा सकता है, मध्ययुगीन समाज की विशेषता धार्मिक चेतना को आधुनिक समाज की राजनीतिक चेतना ने पीछे छोड़ना शुरू कर दिया था। लोगों में व परिवारों में सामाजिक और व्यक्तिगत स्तर पर राजनीतिक परतंत्रता की पीड़ा के विरूद्ध आवाज़ उठ रही थी, तो दूसरी ओर सामाजिक बदलाव की छटपटाहट भी दिखने लगी थी।

यह क्रम 1857 के बाद और तीव्र हो गया। 1857 की क्रांति की असफलता ने अगर साम्राज्यवादी शासकों को सावधान किया तो, भारतीयों को भी अपनी रणनीति पर पुनः विचार करने के लिए विवश किया। उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध इस विचारोत्तेजना का साक्षी है। 1857 की विफलता जबकि भारतीयों के गहरे असंतोष का परिणाम थी, तब भी उसके मूल में नयी चेतना और सामाजिक आंदोलनों का आग्रह कहीं नहीं था। उस समय तक देश में नयी चेतना से सम्पन्न लोगों का वर्ग इतना सबल और सशक्त नहीं था कि वे किसी बड़े आंदोलन का नेतृत्व कर सकते। लेकिन क्रांति के दमन ने नये विचारकों और आलोचकों को विफलता के कारणों पर गहराई से सोचने के लिए बाध्य किया। इस तरह सदियों से अपरिवर्तित भारतीय मध्ययुगीन समाज में नयी वैचारिक ऊर्जा से खलबली पैदा होती है। इस वैचारिक ऊर्जा का एक कारण शिक्षा की नयी व्यवस्था भी स्वीकार किया जाता है, क्योंकि इसी के माध्यम से अन्य देशों के संघर्षों और प्रगतिशील विचारों से तथा विज्ञान की आधुनिकतम शिक्षा से युवा पीढ़ी का नव संस्करण सामने आता है, जो नवजागरण की अगुआई करता है। वस्तुतः ''यूरोप की विद्या तथा उसके प्रकाश में स्पष्ट होते स्वतंत्रता के नए अर्थ का ज्ञान होने से इस देश की नई पीढ़ी को आत्मनिरीक्षण का अवसर मिला। आत्मनिरीक्षण से उन्हें भविष्य का कर्त्तव्य निर्धारित करने में आसानी हुई। यूरोप में औद्योगिक क्रांति ने वहाँ की सामंतशाही को समाप्त कर दिया था। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी, इसके फलस्वरूप वहाँ सत्ता, मध्यवर्ग तथा नये पूँजीपतियों के हाथों में आ गई। क्योंकि नए सत्ताधारी उस समय तक परिवर्तन और प्रगति के अगुआ थे, इसलिए उन्होंने इंग्लैंड के बाहर भी पुराने संस्कारों में जकड़े समाजों को आमूल झकझोर डाला और उन जगहों पर नष्ट हुए विश्वासों के पनपने के लिए ज़मीन तैयार की।''[10] लेकिन भारत में शासन करने वाले और उसके मानस में विकास करने वाले अंग्रेज एक नहीं थे। शासन वर्ग जहाँ भारत की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक पिछड़ेपन शोषक का मूल कारक था, वहीं अंग्रेज बुद्धिजीवी अपने प्रगतिशील विचारों से भारत की नयी पीढ़ी को प्रभावित और प्रेरित भी कर रहे थे।

हालाँकि इन अंग्रेज विचारकों का हू–ब–हू वैचारिक आयात नहीं हुआ, फिर भी इनके प्रभाव को स्वीकारना ही होगा। जिस अंग्रेज जाति ने अपने यहाँ सामंतों के साथ मध्ययुगीनता का अंत किया वही अंग्रेज जाति भारत में सामंतों से समझौता कर मध्ययुगीनता को बनाए रखती है। लेकिन ''जो सत्य एक समाज के परिवर्तन का कारण हो रहा हो वह दूसरी जगह शासकों के आदेश से अपना स्वरूप थोड़े ही बदलेगा?''[11] भारतीयजन को इन संघर्षों से प्रेरणा मिलती है। अंग्रेज शासकों के तमाम शोषणों, औद्योगिक नीतियों के बावजूद शासन के साथ ही बड़े पैमाने पर जो आर्थिक, राजनीतिक परिवर्तन हुए उन्होंने एक महान् सामाजिक और बौद्धिक ज्वार पैदा किया। उस समय प्रचलित सामाजिक सम्बन्धों, धार्मिक मान्यताओं और रीति–रिवाजों को कमज़ोर करने में भारी सहायता की और इस प्रकार आधुनिक राष्ट्रीयता के लिए ज़मीन तैयार की। कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सही मायनों में बदलते विश्वासों और सही रास्ते पर चल पड़ने वाले संघर्ष का आरंभ है, और आरंभ की स्थिति सदा द्वन्द्व की स्थिति होती है, क्योंकि पुराना एकदम से टूट नहीं जाता और नये को रास्ता बनाने में समय लगता है। यहीं समाचार पत्रों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

मार्क्स ने रेलों के भारत में आगमन के समय ही टिप्पणी की थी कि अंग्रेज शासक रेलों के माध्यम से होने वाली औद्योगिक प्रक्रियाओं को अब नहीं रोक सकेंगे। उन्होंने स्पष्ट किया कि इन औद्योगिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप उद्योग की जिन शाखाओं से रेल का सीधा संबंध नहीं है उनमें भी मशीन का प्रयोग होने लगेगा।[12] दरअसल मार्क्स मशीनों के इस्तेमाल से होने वाले भौतिक परिवर्तन को तो देखते ही हैं, साथ ही यह भी देखते हैं कि हाथ से या हाथ के औज़ारों से काम करनेवाले समाज के मानसिक ढाँचे में भी इन प्रक्रियाओं से बदलाव अवश्यम्भावी है। जहाँ खेत में काम करनेवाला ईश्वरी कृपा को जीवन का वरदान मानता है, धार्मिक विश्वासों में जीना सार्थकता मानता है, वहीं मशीनों पर काम करनेवाला मज़दूर अपनी आर्थिक स्थिति के पीछे छिपे कारण को, मालिक और सत्ता की राजनीति को सही संदर्भो में पहचान पाता है। ईश्वर से ज्यादा वह मनुष्य और भाग्य से ज़्यादा वह कर्म को महत्त्व देता है। वैज्ञानिक साधन और प्रौद्योगिकी मानव जीवन को यथार्थ के अधिक निकट ले आते हैं। अंग्रेज शासक भी मशीनों के प्रयोग से होने वाले मानसिक और सामाजिक परिवर्तन को भाँप रहे थे। इसीलिए उन्होंने हर मशीन को (छापे की मशीन को भी) भारतीयों के दिमाग़ के लिए भड़कीला और अपने शासन के लिए ख़तरनाक समझा। अतः उन्होंने ऐसी नीतियाँ बनाई जिससे भारत की औद्योगिक प्रगति संभव ही न हो सके। वे यह भी देख रहे थे कि इन औद्योगिक प्रक्रियाओं से राजनीतिक विद्रोह भी फैल सकता है और भारत का आर्थिक पक्ष मज़बूत भी हो सकता है। इसीलिए उन्होंने मशीनों के प्रयोग को भी सीमित किया। इसी के तहत छापने की मशीन का चलन भी रोका गया। लेकिन जहाँ निजी छापेख़ानों को बढ़ावा नहीं दिया गया वहीं सरकार का काम बिना छपाई के नहीं चल सकता था, इसीलिए कलकत्ता और मद्रास आदि जगहों पर सरकारी छापेख़ाने खोले गए। इन छापेख़ानों में सरकारी कागज़ों की छपाई होती और धार्मिक ग्रंथों की।

अख़बारों का चलन 19वीं शताब्दी में विधिवत शुरू हुआ। यह ध्यातव्य है कि भारत में सर्वप्रथम जो अख़बार निकले, वे अंग्रेजों द्वारा ही निकाले गए। वे अंग्रेज जो शासक वर्ग की नीतियों से संतुष्ट नहीं थे, यदाकदा हिन्दुस्तान की तरफ़दारी (सत्ता वर्ग के विरोध में) कर देते, इसी से सरकार ने इन पर सेंसर लगाया।

अधिकांशतः वही अखबार नियमित रूप से निकलते रहे जिनमें भारत की सही सच्ची तस्वीर नहीं थी। क्योंकि अख़बार जनचेतना को व्यापक स्तर पर जागृत करने का काम कर सकते थे, इसलिए इन अख़बारों को ब्रिटिश सरकार ने अपने नियंत्रण में लिया। पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस प्रतिबंध का साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए लिखा–''मुझे याद है कि जब मैं लड़का था उन दिनों हिन्दुस्तान के ब्रिटिश संचालित अख़बार सरकारी ख़बरों, नौकरी, तबादला और तरक्की की ख़बरों से भरे रहते थे। उनमें यहाँ के अंग्रेज समुदाय के कार्यक्रम का, पोलो घुड़दौड़ का, नाच और नाटकों का ही ज़िक्र होता था। हिन्दुस्तान की जनता के बारे उनके राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक या सांस्कृतिक जीवन के बारे में शायद ही कोई बात होती थी। उन अख़बारों को पढ़ने से तो इस बात का अंदाज भी नहीं होता था कि कहीं हिन्दुस्तानियों का भी अस्तित्व है।''[13]

यह सही है कि अंग्रेज सरकार के प्रतिबन्धों के कारण बड़े नगरों और शहरों में (जहाँ सरकारी नौकरी, उच्च वर्ग के लोगों, कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों की संख्या अधिक थी) ऐसे अख़बारों को जो भारत की सच्ची तस्वीर दिखाते नहीं पहुँचने दिया जाता था, बल्कि ऐसे अख़बारों के छपने पर ही प्रतिबंध था। लेकिन यह भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि उसी दौर में हिन्दी प्रदेश में नए लेखक और बुद्धिजीवी ऐसे पत्रों का संपादन कर रहे थे, जिनमें सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक चर्चा होती थी। कई जगह बुद्धिजीवियों द्वारा, तो कई जगह देशभक्तों द्वारा ऐसे पत्रों की हस्तलिखित प्रतियाँ, हर कस्बों व हर घर में पहुँचाए जाने की कोशिश होती थी। लेकिन धीरे–धीरे छापने की मशीन का चलन तेज़ होने लगा और समाचार पत्रों की संख्या भी बढ़ने लगी। समाचार पत्रों के इस आरंभिक दौर में भारतेन्दु मण्डल के लेखकों, पत्रकारों ने महती भूमिका अदा की।

साम्राज्यवादी रूकावटों के अतिरिक्त कुछ आंतरिक बाधाएँ भी थी जो समाचार पत्रों के प्रसार को बाधित करती थी; भारतीय जनसाधारण की निरक्षरता और निर्धनता। फिर भी समाचार पत्रों के महत्त्व को तत्कालीन दौर ने पहचाना। समाज सुधारक इस बात से तो पूर्णतः परिचित थे कि लोगों तक प्रगतिशील विचारों का बड़ी मात्रा में पहुँचना ज़रूरी है, क्योंकि विचार जब जन के बीच पहुँचते हैं तभी भौतिक शक्ति बनते हैं, और शक्ति का निर्माण करने में समाचार पत्रों की विशेष भूमिका है।

राजा राममोहन राय भारत में अखबारों को स्थापित करने वालों में सबसे अग्रणी हैं। 1827 में बंगाली पत्रिका 'संवाद कौमुदी' और 1822 में फारसी अख़बार 'अल अकबर' निकाले। वस्तुतः ये दोनों ही अख़बार नवजागरण के संदेश वाहक थे। ''उनकी पत्र पत्रिकाओं के द्वारा देश के सभी भागों में राष्ट्रीय नवजागरण का संदेश पहुँचाया जाता था। इन पत्रों के कॉलमों के माध्यम से उन्होंने अतीत के अवशेषों– जातिप्रथा, मूर्तिपूजा, पशुबलि इत्यादि के विरूद्ध निर्मम संघर्ष चलाया।''[14] अंग्रेज सरकार इस प्रकार के समाचार पत्रों पर कड़ी नज़र रखती थी और इनके व्यापक प्रभाव को महसूस करते हुए उन्होंने इनके दमन की कार्यवाही शुरू की। 1799 से ही समाचार पत्रों पर यूँ तो सेंसर लग गया था, लेकिन इस सेंसर के ख़िलाफ असंतोष के कारण वारेन हेस्टिंग्स को 1817 में यह सेंसरशिप ख़त्म करना पड़ा। लेकिन तब भी ऐसे नियम कानून थे, जैसे सरकारी लाइसेंस के बिना समाचार पत्र निकालना अपराध था। और ऐसे देशभक्त समाचार पत्रों को लाइसेंस मिलता नहीं था। इस तरह ''19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय समाचार पत्र सामान्यतः सरकार की आलोचना कम करते थे। इनकी वितरण संख्या भी कम थी।''[15] लेकिन इसके बाद क्रमशः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते–आते समाचार पत्रों ने अपनी क्रांतिकारी भूमिका को सहजता पूर्वक निभाया।''[22] दिसम्बर 1872 की 'कविवचनसुधा' में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने लिखा था कि भारत का व्यापार अंग्रेजों के हाथ में है। कपड़ा, झाड़ू, फानूस, खिलौने, कागज़ और पुस्तक इत्यादि सब वस्तु विलायत से आवेंगी, उसके बदले यहाँ से द्रव्य जाएगा।''[16] 1874 की 'कविवचनसुधा' के अनुसार ''कपड़ा बनाने वाले, सूत निकालने वाले, खेती करनेवाले आदि सब भीख माँगते हैं।''[17] यह उस दौर के भारत की सच्ची तस्वीर थी जिसने तत्कालीन पत्रों तथा पत्रकारों ने अंग्रेज सरकार के दबाव के बावजूद उभारा। यह वह दौर था जबकि ''नवजीवन के स्रोत स्वाधीनता के युद्ध को अग्रसर करनेवाले जितने महिमामय पुरूष हुए, वह सब पत्रकार थे।''[18] और यही क्रांतिकारी भूमिका समाचार पत्रों की थी। मध्ययुगीन समाज के खोल को तोड़ने में सबसे बड़ा सहयोग इनका ही था। उस दौर के समाचार पत्र आधुनिक विचारों के वाहक थे। सिर्फ वाहक थे, सम्पूर्ण नहीं। द्वन्द्व की प्रक्रिया नियमित होती थी। भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों में इसके प्रारूप की छानबीन आवश्यक है। उनके तार्किक और वैचारिक दृष्टि की पड़ताल निरंतर करते रहने की ज़रूरत है।

## संदर्भ सूची


1. वसुधा डालमिया, हिंदू परम्परों का राष्ट्रीयकरण, अनुवाद–संजीव कुमार, योगेन्द्र दत्त, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2016, पृ० 125
2. ए० आर० देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, दी मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडियालिमिटेड, दिल्ली, प्र. हिन्दी सं.–1976, पृ० 245.
3. के० दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं.–2001, पृ० 427.
4. वही, पृ० 342.
5. एम० एस० जैन, आधुनिक भारत का इतिहास, दी मैकमिलन कम्पनी ऑफ इन्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली, सं.–1977, पृ० 317.
6. ए० आर० देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, दी मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, प्र. हिन्दी सं.–1976, पृ० 346.
7. वही.
8. वही, पृ० 253.
9. के० दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं.–2001, पृ० 430.
10. ठाकुर प्रसाद सिंह, स्वतंत्रता आंदोलन और बनारस, वाराणसी विश्वविद्यालय प्रकाशन, संव 1990, पृ० 33.
11. वही, पृ० 34.
12. (विस्तार के लिए देखें– कार्ल मार्क्स, भारत सम्बन्धी लेख, अनु० ओमप्रकाश संगल, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, प्रथम संस्करण–1954.)
13. जवाहरलाल नेहरू, हिन्दुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्य मंडल, इलाहाबाद, सं.–1945, पृ० 400.
14. के० दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं.–2001, पृ० 365.
15. एम० एस० जैन, आधुनिक भारत का इतिहास, दी मैकमिलन कम्पनी ऑफ इन्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली, सं.–1977, पृ० 278.
16. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1999, पृ० 18.
17. वही, पृ० 18.
18. कमलापति त्रिपाठी, स्वतंत्रता आंदोलन और उसके बाद, राजकमल एण्ड संस, दिल्ली, सं.–1988, पृ० 19.